

तबले का उद्भव और विकास

Hema Dani¹

¹ Kumaun University, Uttarakhand, India

प्रस्तावना

वाद्यों का उद्भव और विकास, मानव सभ्यता संस्कृति के उद्भव काल से जुड़ा है। जो समय-समय पर सामाजिक, प्राकृतिक व सांस्कृतिक धारा के साथ-साथ परिवर्तित होता हुआ आज की स्थिति तक पहुँचा है।

पूर्व वैदिक काल से ही हमें वाद्यों के विकास के चिन्ह मिलते हैं। चाहे वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था के रूप में हो। आदिकाल से ही मानव अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न वाद्यों का प्रयोग करता चला आ रहा है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता एवं संस्कृति का विकास हुआ, वाद्यों की बनावट, सामग्री, आदि में परिवर्तन होता गया और वे परिष्कृत होते चले गए, वाद्यों का आज जो रूप दिखाई देता है वह क्रमशः कई वर्षों के सतत् प्रयास एवं परिश्रम का फल है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने मानव कंठ को वाद्य की संज्ञा दी है जो ईश्वर द्वारा निर्मित है। मानव के द्वारा विकसित वाद्य प्रयोग विधि के आधार पर मुख्य चार श्रेणियों में विभक्त है- तत्, अवनद्ध, घन सुषिर इनमें तत् और सुषिर वाद्य मुख्यतः स्वर वाद्य होने से उनमें धुन या राग बजायी जाती है और अवनद्ध तथा घन ताल प्रधान वाद्य होने से उसमें लय और ताल की अभिव्यक्ति होती है।

आदिकाल में मानव को वाद्यों के निर्माण की प्रेरणा प्रकृति से प्राप्त हुई। सभ्यता के विकास के उस युग में जब मानव ने पत्थर को आपस में टकराकर ध्वनि उत्पन्न करना सीखा तो मानव को यह अनुभव हुआ होगा कि हाथ के प्रयोग से अन्य वस्तुओं से ध्वनि निकाली जा सकती है। तब उसने खोखले पेड़, खोखली जमीन को पशुचर्म से मढ़कर उसके ऊपर डंडा मारकर ध्वनि उत्पन्न की। इस प्रकार भूमिदुन्दुभि का जन्म हुआ जिसका आधुनिक रूप हम तबला को कह सकते हैं।

खोखली जमीन को पशु की खाल से मढ़कर उस पर बैल या भैंस की पूँछ से प्रहार करके निश्चित अन्तराल पर एक ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। जिसे आधार मानकर सामूहिक गायन तथा नर्तन के कार्यक्रम सम्पन्न होते थे।

आदिकाल से वर्तमान तक वाद्यों के निर्माण में प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग ही हुआ है। जैसे प्राचीन युग में वाद्यों का शरीर मिट्टी का होता था जो शनैः-शनैः लकड़ी, लोहा, पीतल आदि धातुओं से बनने लगा। वर्तमान में भी यही निर्माण सामग्री वाद्यों में प्राप्त होती है।

मानव ने अपनी बुद्धिमत्ता के आधार पर वाद्यों के स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन व संशोधन किये। आवश्यकतानुसार वाद्यों के आकार को छोटा, बड़ा, ऊँचा, नीचा करके इसमें परिष्कार की प्रक्रिया चलती रही है।

वाद्यों के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए व इसकी परम्परा को जानने का महत्वपूर्ण आधार हमारे प्राचीन ग्रन्थ व साहित्य है। जिसमें हमारी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की झलक मिलती है। इन प्राचीन साहित्यों में सभ्यता, संस्कृति, विचारों तथा संस्कारों का उल्लेख मिलता है। सभ्यता समय-समय पर अपना

रूप बदलती रही है तथा संगीत समाज की सुन्दरता होने के नाते सभ्यता का प्रतीक व समाज का अलंकार है।

मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त संगीत विषयक सामग्री के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल के लोग संगीत को अपने जीवन में कितना समाहित कर चुके थे। मिट्टी के पात्र जो अन्य आवश्यकताओं हेतु बनाये जाते थे। आनन्द और उल्लास के समय उन्हीं मिट्टी के पात्रों का प्रयोग किया जाता था। जो वाद्य यन्त्र का काम देने लगे थे। ढोल वाद्य, जो तत्कालीन समय का सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य रहा होगा। इसी प्रकार वैदिक तथा रामायण काल में संगीत का जो विकास हुआ, उससे मानव का विकास हुआ। इस काल में संगीत को उच्च स्थान प्राप्त था। वैदिक युगीन समन नामक सांगीतिक उत्सव का महत्व था। यही समन महाभारत काल में समज्जा के रूप में प्रचलित हुआ। समन एक प्रकार का मेला है जिसमें गायन, वादन, नृत्य तीनों का सुन्दर ढंग से प्रचलन था।

वैदिक काल में अनेक वाद्ययन्त्रों का प्रयोग होता था। थाप से बजने वाले वाद्यों में दुन्दुभि (साधारण ढोल) आडंबर (ढोल) की एक किस्म, भूमिदुन्दुभि, (भूपृष्ठ पर चर्म से आच्छादित वाद्य) वनस्पति (लकड़ी से बना ढोल) का उल्लेख है।

वैदिक कालीन भूमिदुन्दुभि से ही मृदंग की उत्पत्ति हुई है। इसकी प्राचीनता इस बात से सिद्ध होती है कि इस वाद्य का प्रारम्भिक रूप मिट्टी से बना। मानव की आदिम अवस्था से पहले मिट्टी फिर काष्ठ एवं पत्थर तथा उसके बाद धातुओं का प्रयोग हुआ अतः मिट्टी और काष्ठ के बने वाद्य धातुओं के वाद्य से भी अधिक प्राचीन है। श्री रामचन्द्र जी के विवाहोत्सव के अवसर पर मृदंग, दुन्दुभि वीणा आदि वाद्यों का वादन किया गया था।

बौद्ध तथा जैन काल में प्रचलित अवनद्ध वाद्यों में आनक, आलम्बर, मृदंग, भेरी पणव, दुन्दुभि मुरज, कुम्भधूण, मर्दल, आलिंग्य, डिमडिम, दर्दरिका आदि वाद्यों का उल्लेख है। बौद्ध व जैन दोनों ही कालों में अवनद्ध वाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान था। वाद्य जनसाधारण में इतने लोकप्रिय थे कि उनकी ध्वनि से ही वाद्य विशेष का नाम समझ जाते थे।

संगीत के क्षेत्र में अवनद्ध वाद्यों का विशेष महत्व प्राप्त होता है क्योंकि विशिष्ट प्रकार के वातावरण में विशेष प्रकार के रस एवं भावों की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। तबला आदि वाद्य में चंचलता नगाड़ा, घोंसा, मादल, ढोल आदि वाद्यों की ध्वनि में गाम्भीर्य होता है अतः भय, रोष, आवेश के भावों को उत्पन्न करने में ये वाद्य सहायक होते हैं।

भरत ने नाट्य परम्परा में संगीत को मुख्य तत्व के रूप में स्वीकार किया है तथा त्रिपुष्कर (मृदंग) को सर्वश्रेष्ठ वाद्य माना है। आधुनिक ताल वाद्यों की उत्पत्ति तथा विकास में हमें भरतकालीन त्रिपुष्कर के तीनों हिस्सों का प्रभुत्व देखने को मिलता है, जैसे - ढोलक, पखावज, खोल आदि के विकास में आकिक का महत्व दिखाई देता है तो तबले-बायें पर ऊर्ध्वक और आलिंग्यक का प्रभाव दिखाई देता है।

अवनद्ध वाद्य तबला एक महत्वपूर्ण ताल वाद्य है। तबला शब्द मूलतः अरबी शब्द 'तबल' से विकसित होकर बना है, जो अरब, फारस, तुर्किस्तान आदि देशों के निवासियों के भारत में आगमन के फलस्वरूप प्रचार में आया। वर्तमान में 'तबला' शब्द 'तबला जोड़ी वाद्य' के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।

अरब देशों में दुन्दुभि के समान आकृति वाले वाद्य को तबल कहा जाता था। तबल एक प्रकार का नगाड़ा था तथा यह अरबी समाज में प्रचलित एक रणवाद्य था। यह वाद्य युद्ध की ओर अग्रसर होती हुई फौज के पीछे-पीछे चलता था। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावत महाकाव्य में तीन स्थानों पर तबल शब्द का प्रयोग युद्ध में बजाए जाने वाले एक बड़े नगाड़े के अर्थ में किया है जो कि दुंदुभी, घौसा जैसा बृहत् अवनद्ध वाद्य था जिसका उल्लेख निम्न चौपाइयों में इस प्रकार मिलता है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि तबल, नगाड़ा युद्ध में बजाया जाने वाला एक महत्वपूर्ण वाद्य था। इस वाद्य की ध्वनि के साथ सेना युद्ध के लिए कूच करती थी तथा यह वाद्य सैनिकों में जोष की भावना को जाग्रत करने में भी सक्षम रहा होगा।

मुहम्मदशाह रंगीले के शासन काल से पूर्व शाहजहाँ के काल, सत्रहवीं शताब्दी तथा उससे पूर्व के कुछ भित्तिचित्रों एवं शिल्प कलाओं में इस प्रकार के एक वाद्य को कमर में बांधकर विशेष रूप से स्त्रियों के द्वारा बजाया जाता था, और जिसकी अद्भुत समानता तबले से है। अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि वस्तुतः तबले का अस्तित्व मुहम्मद शाह रंगीले के शासनकाल के पूर्व भी था लेकिन उसकी स्थिति शास्त्रीय वाद्य की न होकर लोक वाद्य के समान थी। उस काल के शास्त्रीय वाद्य मृदंग अथवा पखावज और ढोलक थे।

तबले की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? इस सन्दर्भ में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, किन्तु तबले के वर्तमान स्वरूप का अवलोकन करने के बाद मेरा यह विचार है कि तबले का अस्तित्व उस काल से रहा है जब द्विअंगी वाद्य प्रचार में थे। अर्थात् तबले-बायों का आविष्कार एवं परिष्कार ऊर्ध्वमुखी द्विपुष्कर वाद्य की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ है। जिसका अंकन मध्यकालीन चित्रों में भी प्राप्त होता है। युग परिवर्तन परिस्थिति के साथ-साथ इसके स्वरूप और नाम में भी परिवर्तन हुआ तथा मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से इस जोड़ी को ऊर्ध्वमुखी वाद्य होने के कारण लोक में तबला कहा जाने लगा।

प्राचीन द्विपुष्कर व मध्यकालीन जोड़ी वाद्यों का प्रयोग मुख्यतः नृत्य के साथ होता था। अतः परम्परागत रूप से तबला नृत्य के साथ सम्बन्धित रहा, किन्तु मध्यकाल में ख्याल एवं तन्त्र वाद्य विशेषकर सितार वादन के प्रचार में आने पर तबला के द्वारा ही संगति करने से इसकी वादन शैली का चतुर्मुखी विकास हुआ। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न वादकों द्वारा प्रचलित शैलियों पर अपनी छाप लगाने हेतु घरानों का उदय हुआ।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि दिल्ली घराना और बाज अन्य सभी घरानों का जनक है। दिल्ली के शिष्य देश के विभिन्न नगरों में फैल गये और स्थायी रूप से बस गये। उन लोगों ने अपने वादन में, स्थानीय परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार संशोधन किये तथा अपनी निजी प्रतिभा एवं सृजनशक्ति के आधार पर परिवर्तन करके अपने बाज को नया जामा पहनाया और अपनी अलग पहचान बना ली। उस नवनिर्मित शैली का अनुसरण उनके वंश एवं शिष्यों द्वारा कई पीढ़ियों तक चलता गया तो कालान्तर में उसे एक घरानों की मान्यता मिली। इस प्रकार आज उत्तर भारतीय संगीत में तबला वादकों के प्रमुख रूप से दिल्ली, अजराड़ा, लखनऊ, फर्रुखाबाद, बनारस, पंजाब आदि छः घराने हैं। घरानों की स्थापना से अवनद्ध वाद्य तबले के विकास को एक मजबूत बल मिला। इसकी प्रतिष्ठा व लोकप्रियता बढ़ी। अलग-अलग घरानों में बँटकर कलाओं ने

अलग-अलग आयाम स्थापित किये हैं। पूरब में खुले और गम्भीर बोलों का बाहुल्य है तो पश्चिम में मधुर और कर्णप्रिय बोलों की प्रचुरता।

संगीत में तबले का क्षेत्र गायन, वादन, नृत्य की भिन्न-भिन्न विधाओं से जुड़ा है। जिनकी शैली के अनुरूप संगति वांछनीय है। आज संगीत की बहुत कुछ सफलता तबले की अच्छी संगति पर निर्भर है। तबला संगति का उद्देश्य संगीत को अधिक प्रभावोत्पादक तथा आकर्षक बनाना है।

श्रृंगार भाव प्रधान पक्ष में तबला-संगत, रसरंजकता की अनुभूति कराता है। श्रृंगार भाव-प्रधान पक्ष से अभिप्राय, नृत्य, गायन एवं तन्त्र वादन की उन समस्त रचनाओं से है। जो कि प्रत्येक जन हृदय को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इसमें तबला संगति बड़े ही सूझ-बूझ से की जाती है। मुलायम वादन तथा रस रंजकता की उत्पत्ति के लिए विशेष तकनीक का प्रयोग किया जाता है। जैसे - बोलों का सही निकास, नाद की गम्भीरता, ज्ञान, सूझबूझ, संगति में बोलों की कोमलता, सरसता, लय की सुन्दर सजावट, लय माधुर्य बोलों की सुन्दर बन्दिशें आदि का प्रदर्शन विभिन्न भाव एवं रसोत्पत्ति में सहायक है।

सोलो स्वतन्त्र वादन में तबला एकल वादन किया जाता है। इसके अन्तर्गत तबला वादक अच्छे और महत्वपूर्ण बोलों का वादन करके अपनी स्तरीयता का परिचय देता है। तबले में बोलों की संस्कृति, उनकी स्वाभाविकता, मौलिकता, सरसता, बारीकी आदि तबले की स्वतन्त्र पहचान के प्रमुख तथ्य हैं।

गायन शैली, वादन शैली, नृत्य शैली की सुन्दरता बढ़ाने के लिए तबला को जितनी सफलता मिली है। उतनी सफलता किसी भी अन्य वाद्य को नहीं मिली। भारत में केवल तबले का नाम और उसकी संगति का क्षेत्र बदलता रहा है। भारत काल में यह त्रिपुष्कर नाम से लोकप्रियता के शीर्ष पर था तो शारंगदेव (13 वीं सदी) के समय अपने विशाल आकार और मिट्टी द्वारा निर्मित होने के कारण यह लोगों को अनुपयोगी प्रतीत होने लगा। (14 वीं शताब्दी में यह संगीत के निम्नवर्गीय व्यवसायियों से जा जुड़ा और आज के युग का यह सर्वाधिक लोकप्रिय प्रतिष्ठित वाद्य है। जिसकी माँग शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम, फिल्मी एवं लोक संगीत हर क्षेत्र में है। गायन, वादन, नृत्य संगत में तबले पर रसोत्पत्ति होती है तथा तबले पर रसोत्पत्ति इसलिए सम्भव है कि यह एक समुन्नत वाद्य है।

विभिन्न प्रकार जैसे - टुमरी, दादरा, टप्पा, गीत, कजरी, चैती आंचलिक गीत, भजन, गजलें ये बड़ी शालीनता से प्रस्तुत किये जाते हैं, इसे गाकर एवं गाने के साथ नृत्यरत होकर दर्शाये जाते हैं। तबला वादकों को इन गायन-प्रकारों में उसी मिजाज में संगति करनी होती है ताकि रसरंजकता की अनुभूति हो सके। तबला जोड़ी (डग्गा एवं दायों) से विभिन्न नाजुक बोलों को निकालकर रस रंजकता की अनुभूति की जा सकती है। तबले को यदि भावानुकूल संगति वाद्य कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भारतीय संगीत के इतिहास में एक ऐसा भी समय आया कि उसमें अश्लीलता एवं विलासिता का भाव आ गया। गाने, नाचने व बजाने वालों को समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, लेकिन शिक्षा के प्रचार-प्रसार तबला की लोकप्रियता एवं तबला कलाकारों की उत्कृष्टता के कारण तबला वादकों को सम्मान मिला। आज तबला कला विश्वस्तर पर प्रतिष्ठित हो रही है। अतः इसकी प्रगति के आधार पर हम कह सकते हैं कि तबला वादकों का भविष्य उज्ज्वल है। आवश्यकता है कि इसके विकास मार्ग में जो बाधाएँ हैं उन्हें दूर किया जाए।

वर्तमान में जहाँ तबला वादकों की भव्य परम्परा प्राप्त होती है। साथ ही इस परम्परा के निर्वहन हेतु उसमें हौसला भी दिखाई देता है। तथापि देशकाल व परिस्थितियों जन्म विषमताओं से

जूझते एवं संघर्ष करने पर भी वांछित लक्ष्य को प्राप्त न कर पाने की असफलता जन्य हीन भावना तथा कुंठा ने वर्तमान पीढ़ी के अनेक कलाकारों को नशे की अंधी गली में भटका दिया है। साथ ही जीविका की चिन्ता ने युवा कलाकारों को उस तबला साधना से विमुख सा कर दिया जो इनके पूर्वजों की धरोहर रही है।

मेरा सुझाव है कि तबला की कला को इस दयनीय दशा से उबारने हेतु संगीत प्रेमियों व सरकार की ओर से कुछ ऐसे भागीरथ प्रयास किये जाने चाहिए कि तबले के कलाकार नशे की लत व जीवन यापन के संघर्ष से मुक्ति पाकर निश्चित होकर साधना कर सकें। कलाकारों को जीवन यापन हेतु आर्थिक लाभ दिया जाए। जिससे कलाकारों को उचित रूप से वहन करने का दबाव कम हो, इससे तबले की यश पताका फैलेगी ही।

सन्दर्भ

1. गोडबोले, मधुकर गणेश : तबला शास्त्र अशोक मन्दिर, प्रकाशन इलाहाबाद, 1974, पृष्ठ सं० 13, 14, 20.
2. गर्ग, लक्ष्मी नारायण: निबंध संगीत संगीत कार्यालय हाथरस, 1989, पृष्ठ सं० 34, 55.
3. डॉ० भार्गव, अंजना : भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिंतन, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ सं० 15, 19.
4. मिस्त्री, डॉ० आबान ई०: पखावज और तबला के घराने एवं परम्परायें पं० केकी० एस० जिजिना स्वर साधना समिति मुम्बई, 1984, पृष्ठ सं०, 45, 90.
5. मिश्र डॉ० राज छत्र : प्राचीन भारतीय संस्कृति, अनुराग प्रकाशन 131 संत रविदास मार्ग, 1984, पृष्ठ सं०, 8, 9.
6. श्रीवास्तव, डॉ० धर्मावती : प्राचीन भारत में संगीत भारतीय विद्याप्रकाशन वाराणसी, 1973, पृष्ठ सं०, 19, 20.
7. पं० वशिष्ठ, सत्यनारायण : तबले पर दिल्ली और पूरबसंगीत कार्यालय हाथर, 1969, पृष्ठ सं० 14, 43.
8. परांजये श्रीधर शरच्चन्द्र : भारतीय संगीत का इतिहासचैखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, राजकमल प्रकाशन, 1970, पृष्ठ सं०, 10, 18, 66, 77.
9. आचार्य बृहस्पति : संगीत चिंतमणी संगीत कार्यालय हाथरस, 1989, पृष्ठ सं०, 11, 20, 51.
10. श्रीवास्तव, सुधा : भारतीय संगीत के मूलाधार, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर हाथरस, 2002, पृष्ठ सं०, 33, 44, 66.